मेहनतकश को किताबें चाहिए

"अन्धविश्वास छोड़ो और किसी भी बात को स्वीकारने के पहले सवाल पूछो ।"

—ब्रेख्त

लेकिन इस अन्धविश्वास को मेहनतकश पर थोपा गया है। तमाम प्रचार साधनों द्वारा शासक वर्ग नए-पुराने अन्धविश्वासों का एक कुहासा फैलाया हुआ है जिसमें भटकी हुई है मेहनतकश जनता। उसे रोशनी चाहिए ताकि वह सचाई को देख सके। उसे रोशनी चाहिए ताकि उसके सामने पेश विचारों, नारों और सिद्धान्तों पर सवाल खड़ा करे और समझे कि सही क्या है और उसे करना क्या है। लेकिन यह ज्ञान प्रकाश मिलेगा कहाँ से ?

ज्ञान का सबसे प्रधान और बड़ा स्रोत किताबें हैं जिनसे भारत की अधिकतम मेहनतकश जनता वंचित है। एक तो अधिकांश मेहनतकश निरक्षर हैं और साक्षर मेहनतकशों में अधिकतम लोग इतने कम पढ़े-लिखे हैं कि वे उपलब्ध लिखित सामग्री के एक नगण्य हिस्से का ही उपयोग कर सकते हैं। बाकी लिखित सामग्री का अधिकतम भाग अंग्रेजी में है और देशी भाषाओं में जो किताबें हैं भी तो वे इतनी जटिल भाषा में हैं, इतनी मोटी और खर्चीली हैं कि व्यवहार में आम मेहनतकश इन किताबों में उपलब्ध ज्ञान से वंचित हैं।

जब से समाज में वर्ग बने तब से ज्ञान भंडार के हकदार मुट्ठी भर लोग ही रहे। शासक वर्गों ने हमेशा मेहनतकशों को ज्ञान से वंचित रखने की परम्परा चला रखी है। यह परम्परा आज भी जारी है। आज किताबों में उपलब्ध ज्ञान को वही हासिल कर सकता है जो इसके लिए विशेष रूप से शिक्षा पाया हो और अभ्यास किया हो। बुद्धिजीवियों और

मेहनतकशों को बिलकुल अलग-अलग खड़ा कर दिया गया है। इस प्रक्रिया ने लेखन शैली को भी ऐसा बना दिया है कि आम तौर पर किताबें केवल बुद्धिजीवियों के लिए होती हैं, या फिर बुद्धिजीवी बनने की प्रक्रिया में संलग्न छात्र-छात्राओं के लिए।

मेहनतकशों के किए किताबें नहीं हैं—यह परम्परा एक ऐसी संस्कृति बन गई है कि मेहनतकश सोचता है कि पढ़ना मेरे बस का रोग नहीं है; और बुद्धिजीवी भी सोचते हैं कि किताबें मजदूर-किसानों के लिए नहीं होती हैं, वे पढ़ते नहीं हैं, पढ़ नहीं सकते हैं, बल्कि अगर उन्हें कुछ बताना है तो तस्वीरों. स्लाइडों, फिल्मों, भाषणों आदि द्वारा समझा दो।

बुद्धिजीवियों की तरह खुद के प्रयास से अपनी पसन्द और जरूरत की सामग्री पढ़कर मेहनतकश भी ज्ञान हासिल कर सकता है, इस संभावना को उपरोक्त परम्परावादी नहीं मानते। वे सोचते हैं कि किताबों से ज्ञान पाने के लिए विशेष प्रशिक्षण अनिवार्य है और किताबें वैसी ही लिखी जा सकती हैं जैसी अभी हैं, वे आम मेहनतकश की समझ के स्तर पर नहीं लिखी जा सकती हैं।

कुछ लोग ऐसा भी सोचते हैं कि मेहनतकश को इस सारे ज्ञान की जरूरत ही क्या है, अपने काम के बारे में जानना ही उसके लिए काफी है। वह पूरा ज्ञान भंडार लेकर क्या करेगा? वैसे ही, जैसे परम्परागत माँ-बाप अपनी बेटियों से कहते हैं कि इतना पढ़कर क्या होगा, आखिर तो जाना है चूल्हे के पास।

कुछ प्रगतिशील लोगों ने आम मेहनतकश के पास सरलभाषा में कभी-कभी कुछ ले जाने की कोशिश की है। लेकिन इन बेचारों का बड़ा कटु अनुभव रहा है कि आम मेहनतकश किताबें पढ़ता नहीं है, दिलचस्पी नहीं लेता; मेहनत बेकार गयी।

स्थिति को समझने के लिए एक कहानी पेश है—

एक राजा को बिल्लियों का बड़ा शौक था। उसने एक गाँव से गुजरते वक्त देखा कि वहाँ बहुत—सी बिल्लियाँ हैं, लेकिन सभी दुबली-पतली। राजा ने सभी गाँववालों को बुलाकर कहा कि मैं तुम सबों को एक-एक गाय देता हूं। ६ महीनों में बिल्लियों को दूध पिलाकर मोटा-ताजा बनाकर मेरे सामने पेश करो। राजा ने सबको गायें दीं। ६ महीने बाद एक को छोड़कर सबों ने राजा के सामने मोटी-ताजी बिल्लियाँ पेश की। एक आदमी बगैर बिल्ली के आया। उसने राजा को बिल्ली न लाने का यह कारण बताया कि उसकी बिल्ली दूध नहीं पीती और भागी-भागी फिरती है। इस बात पर चकित राजा ने अपने आदमी भेजकर बिल्ली को पकड़वाया। राजा ने उसके सामने एक कटोरा दूध रखा। दूध देखते ही बिल्ली भाग गयी।

राजा को इसमें कुछ चाल लगी। उसने उस आदमी को कोई सजा न देने का आश्वासन देकर बिल्ली के इस विचित्र व्यवहार का कारण पूछा।

वह आदमी बिल्ली और गाय मिलने के बाद रोज सुबह-शाम बिल्ली के सामने गर्म उबलता हुआ दूध रखता और बिल्ली का मुँह जले। हफ्ते भर में बिल्ली की यह हालत हो गयी कि वह दूध देखते ही भागे, चाहे वह दूध गर्म हो या ठंडा। यही था बिल्ली के दूध न पीने का रहस्य। और वह आदमी गाय के पूरे दूध का आंनद लेता रहा।

लगातार आम मेहनतकश के सामने ऐसी ही किताबें आयीं जो जटिल और बेमतलब लगने जैसी थीं। इसलिए अब कुछ उपयुक्त किताबें सामने रखी भी जायें तो वह उन्हें छूये तब तो! ज्ञान के सारे स्रोतों से मेहनतकश को कई सारी पद्धतियों से लगातार दूर रखा गया। यह

के तहत करीब ५० आदिवासी किसान खेत जोत रहे थे। आदिवासियों की राष्ट्रीय समस्या पर लिखी एक किताब की १०० प्रतियाँ लेकर लेखक शिबू सोरेन से मिलने वहाँ से गुजर रहा था। किसानों को देखकर वह खेत के बगल में रुका। किताबों को देखकर १० किसान हल छोड़कर चले आये और किताब देखने लगे। लेकिन हाय ! वे किताबें तो बुद्धिजीवियों के लिये लिखी गयी थीं। निराश किसान लौट गये।

मेहनतकश के ज्ञान हासिल करने की प्रकिया वास्तव में हमेशा जारी रहती है। केवल उस प्रक्रिया में मौजूद रुकावटों को हटा दीजिये, फिर देखिये वह किसी भी बुद्धिजीवी से कम साबित न होगा।

सवाल किया जाता है मेहनतकश को सारा ज्ञान देने की जरुरत क्या है। देने की नहीं, उपलब्ध कराने की जरूरत है। क्यों ?

मेहनतकश को अपनी जिंदगी पर नियंत्रण चाहिए। आज वह जो उत्पादन करता है उसपर उसका नियंत्रण नहीं है। सत्ता पर उसका नियंत्रण नहीं है। प्रचार के साधनों पर उसका नियंत्रण नहीं है। समाज का एक छोटा सा हिस्सा जैसा चाहता है वैसे समाज की सारी गतिविधियाँ होती हैं।

खदान में काम करने वाले मजदूरों की बात लीजिए। खदान कैसे चलायी जाये, सुरक्षा की कैसी व्यवस्था हो, उसकी मजदूरी कितनी हो, यंत्र लगें या नहीं, या कितने लगें, उसके लिए जीवन की क्या सुविधाएँ मिलें। ये सारी बातें उसके जीवन से सीधा सम्बन्ध रखती हैं, जिसकी जानकारी उसे निहायत जरुरी है। फिर उत्पादन कितना हो, कैसे उत्पादन हो, उत्पादन कैसे कुशलता और किफायत से किया जाये, उत्पादन की कीमते कितनी हों—ये सारी बातें देश के आम मेहनतकश की जिंदगी को प्रभावित करती हैं, जिन्हें जाने बगैर उनसे सम्बन्धित नीतियों को निर्धारित करने के लिए वह आवाज नहीं उठा सकता।

शासन देश में कैसे हो, यह उसकेलिए एक जरूरी बात है। शासन प्रक्रिया में वह जितना ही प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से भाग लेगा, शासन व्यवस्था को उतना ही अपने अनुकूल बना सकता है।

स्वास्थ्य की बात है। आज देश का स्वास्थ्य एक रहस्यमयी व्यवस्था में फँसा हुआ है, जिसपर नियंत्रण दवा कम्पनियों और डाक्टरों का होता है। जानकारियाँ देकर स्वास्थ्य को इस सारगर्भित चक्रजाल से निकाल कर आम आदमी की समझ के दायरे में ले जाया जा सकता है, ताकि वह अधिकांश और अनावश्यक खर्च से बच सके और स्वास्थ्य की अधिकांश समस्याओं का हल खुद कर सके।

धर्म और दर्शन के बारे में जानकर वह काफी कुछ धोखेबाज महंतों के चक्कर और साम्प्रदायिकता की बीमारी से बच सकता है।

उचित जानकारियों द्वारा वह झूठे प्रचारों से बच सकता है। इतिहास की सही समझ के द्वारा वह आज उसे घेरी हुई समस्याओं के हल में बेहतर कदम उठा सकता है। विज्ञान की जानकारी के द्वारा न केवल उसका वह उपयोग कर सकता है बल्कि उसके विकास में भाग ले सकता है, कलाओं में प्रवेश लेकर अपने जीवन को और अधिक समृद्ध सुसंस्कृत और आनन्ददायक बना सकता है। कुल मिलाकर मेहनतकश को सारे ज्ञान की जरुरत क्यों है यह एक बेवकूफी भरा या शोषण-दमनकारी प्रश्न है।

ज्ञान शक्ति है, जिसके बगैर मेहनतकश असहाय और कमजोर है। मेहनतकशों की ओर से चन्द जानकारी रखने वालों द्वारा समाज बदलने तथा जनतंत्र और समाजवाद कायम करने की बात एक धोखा है। समाजवाद और जनतंत्र के सच्चे पक्षधर और मेहनतकशों के साथ तादात्म्यता महसूस करनेवाले बुद्धिजीवियों को वैसी प्रक्रिया चलानी है, जो मेहनतकशों के लिए ज्ञान के सारे रास्ते खोल दे ताकि मेहनतकश खुद

अपने लिए जनतंत्र और समाजवाद लाने के रास्ते पर आगे बढ़ सकें।

मजदूर आन्दोलन को संगठित करने वाले नेताओं ने भी कभी मजदूरों के शिक्षण को प्राथमिकता नहीं दी। बल्कि सरसरी निगाह से देश के विभिन्न मजदूर आंदोलनों के क्षेत्रों के एक सर्वेक्षण से पता चलता है कि नेतृत्व ने मजदूरों को शिक्षित करने की कोई योजना नहीं चलाई। आम मेहनतकश को ज्ञान की उपलब्धि के लिए कोई नियमित प्रकाशन चलाने पर ध्यान नहीं दिया। जो हुआ भी वह नगण्य है। सचेत से सचेत और जुझारू नेतृत्व ने भी लाखों मजदूरों का कई दशकों से आंदोलन में नेतृत्व करने के बावजूद उनके लिए नियमित रूप से एक पत्रिका भी नहीं चलाया।

ऐसा लगता है कि मानो नेताओं के पास, सारी जानकारी रहने भर से समाज परिवर्त्तन कर लिया जा सकेगा। आम मेहनतकश को तो बस नारे लगाने हैं और नेताओं की पुकार-ललकार पर जंग में कूद पड़ना भर है। शायद नेता लोग ऐसा सोचते हैं कि पहले युद्ध या चुनाव द्वारा समाज पर हमारा दखल हो जाये तब आम मेहनतकश को हम सब कुछ दे देंगे। परिवर्तन की प्रक्रिया में आम मेहनतकश की वे बिलकुल ही बुद्धिहीन भूमिका मानते लगते हैं।

क्या अगर ऐसी हालत में समाज बदले तो उस समाज में इस ज्ञान से वंचित मेहनतकश का सत्ता में कोई स्थान रह सकता है? क्या वह मुट्ठी भर लोगों के इशारों पर चलने वाले समूह की एक इकाई बनकर नहीं रह जायेगा?

मेहनतकशों को अपनी जिंदगी पर नियंत्रण रखने के लिए उनको ज्ञान चाहिए और इसके लिए शिक्षा चाहिए।

मेहनतकशों को स्कूलों-कालेजों के माध्यम से वैसी शिक्षा नहीं मिली। अगर कुछ मिली भी तो वह हमेशा अपर्याप्त रहेगा। बदलते,

आगे बढ़ते समाज के बारे में लगातार जानकारी रखना है, जिसके लिए ऐसी शिक्षण प्रणाली का विकास करना है जो मौजूदा ज्ञान की शिक्षा के साथ-साथ वक्त के साथ घटती घटनाओं की जानकारी देती रहे।

एक समग्र शिक्षा प्रणाली में कई चीजें शामिल होंगी—किताबें गोष्ठियाँ, दृश्य-श्राव्य, फिल्म, भ्रमण, प्रयोग, साक्षरता अभियान, वयस्क कक्षायें, पुस्तकालय आदि। इनमें से हम यहाँ किताबों की भूमिका के बारे में लिख रहें हैं। इन सारे माध्यमों में किताबों की भूमिका सबसे बड़ी और दूरगामी होती है। मूलतः सारी जानकारियाँ किताबों में उपलब्ध होती हैं। हाँ, जानकारियों को भली-भाँति ग्रहण करने के लिए अन्य माध्यमों की जरूरत है।

लेकिन मेहनतकशों को ज्ञान पहुँचाने लायक किताबें आज नहीं हैं। इन किताबों के लिए एक समांतर प्रकाशन प्रणाली की जरूरत है। "समग्र प्रकाशन" वैसा प्रणाली को शुरू करना चाहता है।

कई मजदूर आंदोलन के नेता और कार्यकर्त्ता मजदूरों के शिक्षण की आवश्यकता को महसूस करते हैं, लेकिन वे आंदोलन में इस तरह फँसे हैं कि शिक्षण प्रक्रिया को कोई प्राथमिकता नहीं दे पाते।

जन शिक्षण कार्य वैसा आसान भी नहीं है कि एक दृय्यम नजर से उससे निपट लिया जाये।

परंपरा से चली आयी हुई एक जटिल स्थिति है। इसे बदलने के लिए प्राथमिकता देते हुए, मौलिक चिंतन करके, एक कारगर योजना बनाकर उसे कार्यान्वित करने की जरूरत है। लेकिन आज की स्थिति में इस स्तर पर ऐसे प्रकाशन को एक असंभव कार्य मानकर छोड़ दिया जाता है। यथा स्थिति बनी रहे, क्रांति के बाद देखा जायेगा! तब तक समाज में क्या मेहनतकश की भूमिका का आधार केवल नारे,

आदेश और निर्देश ही होंगे ? क्या मेहनतकशों को इन मजबूरियों से मुक्त नहीं किया जा सकता है ?

संघर्ष शिक्षा का पक्का माध्यम जरूर है। संघर्ष के दो प्रकार हैं—१) वर्ग संघर्ष और २) इन्सान और प्रकृति के बीच का संघर्ष। इन दो प्रकार के संघर्षो से गुजरते हुए समाज आगे बढ़ता है, प्रगति करता है। इन संघर्षों में अवश्य मेहनतकश सबसे पक्की जानकारियाँ हासिल करता है।

लेकिन कोई भी मेहनतकश जिन संघर्षों से होकर खुद गुजरता है वे तो बहुत कम होते हैं। अन्य संघर्षों से प्राप्त जानकारी या अतीत के संघर्षों से प्राप्त जानकारी मेहनतकश दूसरों से सुनकर, पढ़कर या दृश्य श्राव्य या फिल्म के माध्यम से ही पा सकता है।

ट्रेड यूनियन संघर्षों के मार्फत मजदूर अपनी माँगों और हकों के लिए मालिकों, सरकार और दलालों के खिलाफ संघर्ष करता है। उनके चरित्र के बारे में समझता है, मजदूरों की एकता कायम करना, संगठन बनाना और आंदोलन तरीके सीखता है।

दूसरा है सत्ता संघर्ष, चुनाव द्वारा या हथियारबंद संघर्ष द्वारा। दोनों तरीकों के अलग-अलग दायरे और उद्देश्य हैं।

संघर्ष के अन्य कई रूप हैं। जैसे,—महिला मुक्ति संघर्ष, राष्ट्रीय संघर्ष, जातिवाद-साम्प्रदायिकता आदि सांस्कृतिक बंधनों के खिलाफ संघर्ष, जनवादी अधिकारों के लिए संघर्ष आदि।

लेकिन इन संघर्षों में मेहनतकशों की खुद की भूमिका बहुत सीमित रहती हैं। नेता और अगुआ कार्यकर्ता ही संघर्ष की गतिविधियों का फैसला करते हैं। इसका कारण अकसर यही है कि मेहनतकश इन संघर्षों भी अपनी भूमिका के बारे में नहीं जानते। इसलिए संघर्षो में

उनकी सीख भी बहुत कम ही रहती है।

मेहनतकश की संपूर्ण मुक्ति के लिए, उनको अपनी जिन्दगी पर संपूर्ण नियंत्रण के लिए, मेहनतकशों को सारे आयामों में संघर्ष करने होंगे। लेकिन वह करता क्यों नहीं ? बल्कि वह अकसर उसके दुश्मनों के हित सिद्ध करने वाले संघर्षों में, जातिगत और साम्प्रदायिक दंगों में ठेल दिया जाता है और जिनसे उलटी और गलत समझ उसके सिर चढ़ जाती है।

मेहनतकश का विरोधी, शासक वर्ग इतना ताकतवर और संगठित है, और वह अपने प्रतिक्रियावादी विचारों को इतने प्रकार से मेहनतकश पर थोपता जाता है कि मेहनतकश उसके जाल में फँसकर गुलाम बनकर रह जाता है। जुल्म और शोषण को तथा प्रतिक्रियावादी विचारों को उचित ठहराने के लिए विभिन्न प्रचार माध्यमों से किये गये प्रचार का सामना करने के लिए उसके पास उचित जानकारी और विचार नहीं हैं।

संघर्ष भी मेहनतकश नहीं कर सकता अगर उसके पास उचित और पर्याप्त जानकारी न हो। खुद-ब-खुद वह केवल कुछ स्वतः स्फूर्त संघर्ष कर लेता है या संघर्ष करता है संगठित दलों, गुटों के निदेशन में जो शायद ही कभी मेहनतकशों को संघर्ष की प्रक्रियाओं पर विचार करने के लिए शामिल करते या कर पाते हैं।

केवल पर्याप्त जानकारियाँ हासिल करके ही मेहनतकश संघर्षो में सही भूमिका अदा कर सकता है।

और इसकी विपरीत प्रक्रिया भी सच है कि संघर्ष होते रहें तो मेहनतकश को जानकारियाँ हासिल करने की प्रेरणा और जरूरत होती है और वह तेजी से सीख पाता है। ये दोनों बातें आपस में जुड़ी हुई हैं — जानकारी और संघर्ष। लेकिन आज स्थिति यह है कि जानकारी रखने

वाले लोग अलग हैं और संघर्ष करने वाले अलग। दोनों ही अपूर्ण हैं।

हमने वैसे मजदूरों को देखा जो संघर्षों में उभरकर अगुआ कार्यकर्ता और नेता बने। उनमें से कुछ ने नौकरियाँ खोकर राजनीति में प्रवेश किया और पूर्णकालिक राजनीतिक कार्यकर्ता बने। इन मजदूर नेताओं और कार्यकर्ताओं को संघर्ष के काफी अनुभव हुए, इन्होंने मार खाया, जेल झेली, नौकरी खोयी; इनके दिलों में इस जुल्मी व्यवस्था को बदलने की तीव्र इच्छा जगी, लेकिन यूनियनों और राजनीतिक दलों की कमेटियों में पढ़े-लिखे ऊपर से आये नेताओं की तुलना में ये सैद्धांतिक चर्चाओं और विचार—विनिमय में कभी पार नहीं पा सके। ये कभी ऊँची कमेटियों में जा नहीं सके। देश के या कम से कम क्षेत्र के पैमाने पर राजनीति की गतिविधियों पर निर्णायक विचार करने में सक्रिय भूमिका अदा न कर पाये। कई कार्यकर्ताओं ने मुझसे अरमान सुनाये कि हमें अंग्रेजी सिखा दो। लेकिन वे सीख नहीं पाये। उन्होंने हिन्दी में कुछ राजनीतिक किताबें पढ़नी शुरू की। जल्द ही वे थक गये। वे महसूस करने लगे कि उनके और नेताओं के बीच की ज्ञान की खाई काफी गहरी है। हमने दर्जनों मजदूरों से बने नेताओं-कार्यकर्ताओं को आंदोलन से हटकर वापस अपनी नौकरी की सीमाओं में सिमट जाते देखा। उन्होंने बहुत कुछ किया और झेला। लेकिन उनके लिए एक सीमा से आगे बढ़ने के रास्ते बंद हैं। कुछ ने स्थिति से समझौता करके नेताओं के आदेश-निर्देश पर झंडा ढोते रहने की नियति को स्वीकार कर लिया। उन नेताओं में नये-नये नौजवान हुआ करते हैं, जो कालेज से ही क्रांति के ज्वार को दिल में लेकर मजदूर आंदोलन में उतरते हैं। हाँ, उनके लिए रास्ते खुले हैं; हर स्तर पर व्यापक संपर्क—संसर्ग—संवाद के रास्ते खले हैं। फिर उनमें से जो टिक गये वे नेता बनते हैं।

अनपढ़-जाहिल मजदूर को तो बस खटना और खपना है। न तो

वह कारखानों में ऊपर उठ सकता है और न ही यूनियन या पार्टी में।

हम एक प्रसिद्ध मजदूर नेता को जानते हैं जिन्होंने आज से १८ साल पहले मजदूरों को नेता बनाने की ठानकर राजनीति में प्रवेश किया था। उन्होंने मध्यम वर्ग और ऊँची जातियों से काफी नफरत की। इसके लिए उन्होंने सिद्धांत बनाये, कोशिशें की, लेकिन १८ साल बाद भी वह इस काम में वहीं के वहीं रह गये। मजदूर वर्ग के नेता नहीं बने।

इन मजदूरों से बने नेताओं की स्थिति सेना में रेग्यूलर्स जैसी है। जो शायद कभी सेकंड लेफ्टिनेंट के पद तक नहीं पहुँच सकेंगे।

क्या इस स्थिति को मान लेना अपरिहार्य है? क्या वैसा कोई रास्ता नहीं है जिससे मजदूर रेग्यूलर्स कमीशंड रैंक के नेताओं के स्तर पर उठ सकें?

उठेंगे कैसे? उसके लिए जरूरी शिक्षण जो नहीं है उन्हें! इसमें तो काफी शिक्षण—प्रशिक्षण से गुजरना पड़ता है! बड़ी-बड़ी बाते हैं, जिन्हें मजदूर समझेगा कैसे (नेताओं की सदिच्छाओं के बावजूद)!

बाबू, स्कूल से छूटकर मजदूर बन गये हो। अब तेरे लिए रास्ते बंद हैं। मजदूरी करो, पेट पालो! हाँ, ये समाजवादी नेता आये हैं, प्यार से बातें करेंगे, तुम्हारी मुक्ति का रास्ता बतायेंगे। इनके पीछे-पीछे चलते रहो! कहीं—न—कहीं, कभी—न—कभी पहुँच जाओगे (भले गढे में ही सही)! यही रवैया चलता है।

क्या यही बदा है मजदूर के लिए? क्या मजदूरी करते हुए वह शिक्षण—प्रशिक्षण के रास्ते नहीं गुजर सकता है? क्या समाजवादी बुद्धिजीवी और नेतागण मिलकर मजदूरों के लिए वैसी कोई शिक्षण प्रणाली नहीं बना सकते जिसके द्वारा उसके लिए बुद्धिजीवियों के लिए उपलब्ध ज्ञान भण्डार में पहुँचने के रास्ते खुल जायें और भारी संख्या में मेहनतकश बौद्धिक उपलब्धियाँ हासिल कर सकें?

हम समझते हैं कि अगर प्राथमिकता दी जाये तो वैसी प्रणाली तैयार की जा सकती है। जनता की समझ की भाषा में समाजवादी और जनवादी बुद्धिजीवी मेहनतकशों के सहयोग से किताबें लिखें। बुद्धिजीवियों को उपलब्ध प्रकाशनों की तरह आम मेहनतकश के लिए समांतर प्रकाशन की एक नयी परंपरा कायम की जाये, जो एक सीढ़ी बन सके। इस सीढ़ी पर चढ़कर हजारों, लाखों, बल्कि करोड़ों मेहनतकश पढ़े—लिखे नेताओं और बुद्धिजीवियों की दुनिया में पहुंच सकें; मजदूर रह कर भी वे दुनिया के बारे में जान-समझ सकें; दुनिया को बदलने की प्रक्रिया में सचेत और सक्रिय रूप से भाग ले सकें; अपना नेतृत्व खुद कर सकें; उन्हें कालेज से आये नेताओं का इंतजार न करना पड़े; और वे अपनी जिंदगियों पर नियंत्रण कर सकें—घर में और बाहर में; कारखानों, खदानों और खेतों में; सब जगह।

"समग्र प्रकाशन" सरल और दिलचस्प किताबों द्वारा आम मेहनतकश को ज्ञान की दुनिया में ले जाने की एक शुरूआत करेगा। वैसी किताबें, जो आम मेहनतकश में सुषुप्तावस्था में मौजूद अनंत जिज्ञासा को जगायेगी। यह प्रकाशन जनता के बीच इस विचार से सहमत कार्यकर्ताओं की मदद से मेहनतकशों को ज्ञान से वंचित रखने की साजिश के खिलाफ एक आंदोलन को जन्म देने में मदद करेगा।

यह प्रकाशन आम मेहनतकश के लिए है। भारत का आम आदमी मेहनतकश है—किसान और मजदूर। किसान और मजदूरों का एक छोटा—सा हिस्सा ही उतना पढ़ा लिखा है कि कम से कम देशी भाषाओं में बुद्धिजीवियों के स्तर की किताबों को समझ सकें। बाकी अधिकतम संख्या में मेहनतकश बहुत कम पढ़े-लिखे (यानी स्कूल की किसी कक्षा तक) हैं। इस अधिकतम समुदाय को हम आम मेहनतकश कहते हैं। ये मेहनतकश देश की आबादी के ९० प्रतिशत होंगे और प्रस्तुत प्रकाशन उन्हीं के लिए है। चूँकि शासक वर्गों यानी पूँजीपतियों और सामंतवादियों द्वारा आम मेहनतकश को अंधेरे में रखने की साजिश के खिलाफ यह प्रकाशन है, इसलिए निश्चित ही यह प्रकाशन इन शोषक वर्गों की विरोधी विचारधारा समाजवाद को अपना लक्ष्य बनायेगा और मेहनतकश वर्गों के हित में काम करेगा।

एक सवाल उठाया जाता है कि जब अधिकांश मेहनतकश निरक्षर हैं तो जैसी भी किताबें हों, निरक्षरों को क्या फायदा होगा।

मेहनतकशों में करीब २० प्रतिशत कम पढ़े—लिखे वर्ग में होने का अनुमान है। याने १० करोड़ से अधिक। यह संख्या शिक्षित और संपन्न वर्गों के लोगों की संख्या से अधिक है। अगर इतनी अधिक संख्या में मेहनतकशों के लिए ज्ञान के रास्ते खोल दिये जाते हैं तो निश्चय ही यह स्थिति समाज परिवर्तन की प्रक्रिया में उनकी भूमिका को गुणात्मक रूप से बदल देगी।

इतना ही नहीं। आनेवाले वर्षों मे अधिक से अधिक निरक्षर मेहनतकश साक्षर बनेंगे। उनको ज्ञान पहुंचाने वाली किताबें आज नहीं हैं। किताबों का ऐसा अकाल है कि साक्षर भी अपने को निरक्षर से भिन्न महसूस नहीं करता। दूसरी तरफ अगर साक्षरों को ज्ञान—विज्ञान की दुनिया में प्रवेश मिलता है तो वह खुद ही निरक्षरों को साक्षर बनने में प्रेरक और सहायक बनेगा।

लोग पूछते हैं कि जो जन प्रकाशन प्रणाली इसके पहले कायम नहीं हो सकी और जो जन-प्रकाशन के प्रयोग इसके पहले सफल नहीं हुए वे आज हो सकेंगे, इसका क्या आधार है।

एक समय था जब प्रगतिशील और क्रांतिकारी कहे जाने वाले संगठन, दल और व्यक्ति मेहनतकश जनता को विश्वास दिला पाते थे कि वे मेहनतकशों को एक नयी दुनिया में ले जायेंगे। बुद्धिजीवियों को भी कुछ ऐसा ही लगता था। दूसरी तरफ शासक वर्ग के प्रचार माध्यम

भी कुछ औचित्य दर्शा पाते थे । आज इन दोनों पक्षों के प्रति मेहनतकशों में आस्था का एक ऐसा संकट पैदा हो गया है कि अब कोई भी दल या व्यक्ति, वाम हो या दक्षिण, मेहनतकशों की निर्विवाद आस्था को हासिल नहीं कर पा रहा है, भले ही कुछ समय और कुछ ही क्षेत्र के लिए क्यों न हो।

दर्जनों सवाल आज जनता के सामने हैं जिनका जवाब नेता नहीं दे पा रहे हैं। आस्था टूटने का ही नतीजा है कि संगठन टुकड़े-टुकड़े होते जा रहे हैं। मेहनतकश केवल अपने बिलकुल तात्कालिक माँगों के लिए इन संगठनों के साथ रहने के अलावा उन नेताओं के कोई दूरगामी मुक्ति दाता होने जैसी आस्था लेकर नहीं चलते।

हाँ, समय-समय पर कुछ प्रयोग होते रहते हैं, जो कुछ समय, कुछ दूरी तक जनता के कुछ सवालों का जवाब देते हैं, फिर अदृश्य हो जाते हैं।

कई सवाल हैं जिनके सामने प्रगतिशील शक्तियाँ असहाय साबित हो चुकी हैं और यह बात जनता देख रही है।

साम्प्रदायिकता और साम्प्रदायिक दंगों की संख्या बढ़ती जा रही है। इन शक्तियों के सामने इसका कोई जवाब नहीं है। जातिवाद पैर जमाकर बैठा हुआ है। प्रगतिशीलों के पास इसका कोई जवाब नहीं है।

महिला मुक्ति आंदोलन का जन्म हुआ प्रगतिशीलों का मुँह चिढ़ाते हुए कि तुमने इस बारे में सोचा ही नहीं हैं। बल्कि प्रगतिशीलों में से कुछ तो इसके विरोध में खड़े हो रहे हैं। उनकी सड़ी—गली संस्कृति महिला मुक्ति के मुद्दे को समझ नहीं पा रही है। पर्यावरण का सवाल आज चर्चा का विषय बना हुआ है और प्रगतिशील शक्तियाँ इसमें भी पिछड़ी हुई हैं और इस मुद्दे पर वे जनता से संवाद स्थापित करने की स्थिति में भी नहीं हैं।

किसी कोने से आज स्वास्थ्य आंदोलन उठ रहा है, जिसका उद्देश्य है स्वास्थ्य के प्रश्न को डाक्टरों की रहस्यमयी दुनिया से उठाकर जनता के हाथों में सरल-सीधे रूप में पहुँचाना। प्रगतिशील इसे भी टाल रहे हैं।

राष्ट्रीय प्रश्न आज देश के सामने मुँह बाये खड़ा है, लेकिन प्रगतिशील शक्तियाँ उस प्रश्न का सीधा सामना करने के लिए आज तैयार भी नहीं हैं। शासक वर्ग सेना को ही राष्ट्रीय प्रश्न के एक मात्र हल के रूप में पेश कर रहा है और प्रगतिशील लोग अन्ततोगत्वा स्वीकार में सिर हिलाने के अलावा कुछ नहीं कर पा रहे हैं।

आजादी के ३८ साल बाद भी देश में भाषा की समस्या का हल पेश नहीं हो सका। अंग्रेजी को मानो अनंतकाल के लिए अवश्यभावी मान लिया गया है और प्रगतिशील शक्तियाँ देशी भाषाओं की प्रतिष्ठा बुरी तरह नाकाम रही हैं।

जनतंत्र और समाजवाद के नारों पर अपना अस्तित्व बनायी हुई प्रगतिशील शक्तियाँ खुद अपने संगठनों में जनतंत्र और समाजवाद के सिद्धांतों को लागू नहीं कर पायी हैं और अपने दल को संजो कर रखने के लिए नौकरशाही ही उनके पास एक मात्र साधन बच रहा है।

मजदूरों की मुक्ति का नारा देने वाले लोग मजदूरों के एक छोटे-से हिस्से, संगठित मजदूरों की आर्थिक माँगों को उठाने तक सीमित होकर रह गये हैं। (ऐसे खुद शासक वर्ग ही इस तबके को एक खास आर्थिक धरातल पर रखने की नीति अपनाया हुआ है।) और मजदूरों के अधिकतम हिस्से यानी असंगठित मजदूरों की समस्याओं के हल में ये शक्तियाँ मूलतः आँखें मूँदी हुई हैं।

अपने को एक से बढ़कर एक प्रगतिशील बताने चक्कर में वे अनेक यूनियनों द्वारा मजदूरों की एकता को तोड़ती हैं और इसके चलते अक्सर

मजदूरों की आकांक्षायें निराशा में डूब जाती हैं।

किसानों के विभिन्न तबकों के प्रति क्या नीति बरतें यह वे आज तक समझ नहीं पाये। आदिवासियों की अस्मिता का, उनके विकास का, उनके भविष्य का क्या होगा—इस पर प्रगतिशील शक्तियों के पास न कोई जवाब है और न कोई कार्यक्रम जबकि पिछले तमाम जन आंदोलनों में आदिवासियों की सबसे अहम भूमिका रही है।

अंग्रेजों द्वारा चलायी गयी नौकरशाही—औपनिवेशिक शिक्षा के विकल्प में जनवादी शिक्षा का रूप क्या हो और उसे कैसे कार्यान्वित किया जाये इस पर भी प्रगतिशील शक्तियाँ निकम्मी साबित हुई हैं।

पिछले एक दशक में नागरिक अधिकारों का संघर्ष काफी विकसित हुआ है लेकिन उसमें भी अगुआ भूमिका अदा करने वाले लोग परंपरागत प्रगतिशील संस्थाओं से बाहर के लोग प्रधान हैं।

अब अधिक से अधिक स्वतः स्फूर्ति इन समस्याओं के हल का रास्ता बनती जा रही है। परंपरागत पार्टियाँ समस्याओं के हल में निरर्थक बनती जा रही हैं। हर मोर्चे पर अब उनकी बेनामी भूमिका को मेहनतकश नहीं मानता। अब मेहनतकश खुद अपनी समस्याओं के हल करने की मजबूरी को समझ रहा है। सैकड़ों—हजारों प्रयोग हो रहे हैं। अब आगे बढने के लिए अगुआ मेहनतकश को जानकारियों की असीम भूख जग रही है। प्रगतिशील, परंपरागत पार्टियों के सर्वोच्च स्तर पर बैठे नेतृत्व का ज्ञान भंडार अर्थहीन है। पहल करने वाले छोटे-छोटे हजारों समूह जब समस्याओं से जूझ रहे हैं तो उनको जानकारियाँ चाहिए।

यह है वस्तुगत स्थिति, जो बताती है कि आज ज्ञान भंडार आम मेहनत कश तक पहुँचाओ, उसे समस्याओं के हल के प्रयास में शामिल करो। बेनामी भूमिका अदा करने वाले नाकामयाब हो चुके हैं।

पहले भी मेहनतकश के लिए प्रकाशन के प्रयोग हुए थे। आज भी कुछ हो रहे हैं। लेकिन वे असरदार साबित नहीं हुए हैं। स्थिति में जैसी जड़ता उसे तोड़ने के लिए जितना जोर लगाया जाना चाहिए उतना नहीं लगाया गया। प्राथमिकता नहीं दी गयी। किसी प्रकाशन ने किताबें छापीं तो इतनी जटिल भाषा में या शैली में कि आम मेहनतकश उसे चबा नहीं पाया। फिर किसी ने अच्छी शैली में लिखी भी तो इतनी कम किताबें प्रकाशित की कि उसके असर का पता भी नहीं चला। फिर उनकी वितरण व्यवस्था इतनी सघन नहीं थी कि भारी पैमाने पर किताबें मजदूरों तक पहुँच सके।

शैली और वितरण की कमजोरियों के चलते किताबें आम आदमी में पढ़ने की संस्कृति कायम करने के हद तक पैठ नहीं सकीं। उन किताबों ने आम मेहनतकशों को जरूर कुछ फायदा पहुँचाया होगा। लेकिन वह इतना कम था कि उसमें किताब पढ़ने की प्रवृत्ति जगा नहीं पायी। इन प्रकाशनों के नतीजों ने प्रकाशकों को पर्याप्त उत्साह नहीं पहुंचाया होगा कि इसे और भी जोर-शोर से आगे बढ़ाया जाये। बल्कि निराशा ने कई बार स्थापित धारणा को ही उनमें मजबूत किया होगा कि मजदूर किताबें नहीं पढ़ते, उन्हें किताबों की जरूरत नहीं है।

"समग्र प्रकाशन" चाहता है कि एक क्षेत्र विशेष में आने वाले कुछ वर्षों के दौरान कुछ सैकड़ों की संख्या में असरदार शैली और आकर्षक रूप में मेहनतकशों के बीच किताबों को व्यावसायिक तौर पर वितरण करने का एक प्रयोग चलाया जाये, जो पाठक—लेखक—प्रकाशक के बीच इस प्रकाशन से संबंधित अविश्वास को तोड़ने की एक जमीन तैयार करे; उक्त क्षेत्र के मेहनतकशों में किताबों के प्रति दिलचस्पी जगाकर "मेहनतकश किताबें नहीं पढ़ते" की धारणा को तोड़ा जाये और इस प्रयोग की सफलता द्वारा सैकड़ों और हजारों की संख्या में

लेखकों और दर्जनों की संख्या में प्रकाशकों में आम मेहनतकश के लिए क्रमश: किताबें लिखने और प्रकाशित करने की प्रेरणा पैदा की जाये। एक और पाठक और दूसरी ओर लेखक और प्रकाशक में दिलचस्पी बढने की प्रक्रिया से एक समांतर प्रकाशन प्रणाली का जन्म होगा। जिस प्रकार आज बुद्धिजीवियों और स्कूल कालेजों के छात्रों की जरूरत के लिए किताबें प्रकाशित करनेवाले हजारों प्रकाशक हैं उसी प्रकार समांतर प्रकाशन प्रणाली में आम मेहनतकश के लिए किताबें प्रकाशित करने वाले हजारों प्रकाशक होंगे।

इतना ही नहीं। जनमुखी कार्यकर्ताओं में इस पर एक संवाद छेड़ना होगा और यह संवाद मेहनतकशों के बीच पहुँचाना होगा।

जनता में आंदोलनरत लोग अपने आंदोलनों और कार्यक्रमों का एक अभिन्न अंग बनावें जन शिक्षण के कार्यक्रम को, प्रकाशन जिसका प्रधान अंग होगा। आज इसकी चर्चा उठी है।

क्या समांतर प्रकाशन प्रणाली एक आंदोलन के रूप में निकट भविष्य में खड़ी होगी ?

पाठकों से हमारा आग्रह है कि वे संपर्क पते पर हमें सूचित करें कि समांतर प्रकाशन प्रणाली के प्रस्ताव पर उनकी प्रतिक्रिया क्या है और वे समग्र प्रकाशन को सफल बनाने में किस प्रकार योगदान कर सकते हैं ?